यह मानकर चलता है कि जो है वह उतना सत्य नहीं जितना कि वह जो नहीं है और जिसे होना चाहिये। एक तरह से साधारण ज्ञान के सन्दर्भ में भी यह बात स्पष्ट होती है पर उसे इस तरह देखा नहीं जाता। जब हम पूछते हैं कि 'यह क्या है?' तो 'यह' और 'क्या' में भेद करते हैं। आखिर सवाल का पैदा होना ही यह बताता है कि हमें उस चीज का पूरा ज्ञान नहीं है। पर यह 'पूरा ज्ञान' होने का क्या मतलब है। क्या इस ज्ञान की प्रक्रिया कभी समाप्त हो सकती है। आदमी कब से जानने की कोशिश करता आया है, और क्या कभी ऐसा समय आयेगा जब उसकी जानने की प्रक्रिया समाप्त हो जोयगी। अगर ऐसा नहीं है तो ज्ञान में ही एक अनन्तता है, जो यह मानकर चलती है कि अगर जिसको वह जानने की चेष्टा करता है, उसका कोई स्वरूप भी है तो वह स्वरूप अपने में अनन्तता लिये हुये है। पर इसके भी परे जब यह सवाल उठता है कि क्या जिसका हमें ज्ञान है वह अपने आप में ऐसा है, जिसे हम स्वीकार कर सकते हैं और अगर हमें उसको स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट होती है तो हम उसे अस्वीकार करके बदलने की कोशिश करते हैं। आज मनुष्य का ज्ञान करीब-करीब इस जगह पहुँच चुका है, जहाँ वह हर चीज को बदलने की अपने आप में शक्ति पाता है। लेकिन इस शक्ति के साथ जो गहरा सवाल जुड़ा हुआ है, उसका जवाब उसके सामने साफ नहीं है। बदल तो हम हमेशा सकते हैं पर इस बदलने की दिशा क्या होगी, असली सवाल यही रहता है और इस तरह दर्शन का मूलभूत प्रश्न यह नहीं है कि 'क्या है' पर 'क्या होना चाहिये' और आदमी के लिये 'होना चाहिये' का मतलब एक ही होता है कि उसका 'सब' से सम्बन्ध क्या है।

❑

दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी समस्याएँ

दार्शनिक चिन्तन एक प्रकार से 'चिन्तन' का ही एक प्रकार है और अगर ऐसा है तो ऐसा भी ज़रूर होगा कि कोई चिन्तन हो और वह 'दार्शनिक' न हो पर, अगर वह चिन्तन है और दार्शनिक नहीं है तो फिर वह कैसा चिन्तन है और उसको 'दार्शनिक' नाम से जानने वाले चिन्तन से कैसे अलग करेंगे। साधारणत: 'चिन्तन' है, तो उसका कुछ विषय भी होगा। मतलब यह, कि चिन्तन किसी के बारे में होगा। लेकिन, मान भी लें कि चिन्तन किसी के बारे में है और यह भी मान लें कि ऐसा होना ज़रूरी है, फिर भी यह सवाल तो बाकी रह जाता है कि आखिर 'सोचने' की ज़रूरत क्यों पैदा हुई। किसी को ऐसा क्यों लगा कि सोचना चाहिए या चिन्तन करना चाहिए।

बगैर 'सोचे' भी जिन्दगी गुजरती है और कई लोगों की राय में ज्यादा अच्छी तरह से गुजरती है। खुद बहुत से दार्शनिकों की राय है कि 'सोचना' एक 'बीमारी' है जो कुछ खास लोगों को आसानी से सताती है। इसीलिए शायद फिलोसफरों को करीब-करीब सभी लोग 'आधा पागल' समझते हैं, कुछ लोग पूरा पागल भी। वैसे, 'पागलपन' क्या है, इसका फैसला करना मुश्किल है। फिर भी यह मानने में किसी को कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि 'पागलपन' हजारों तरह के होते हैं और अगर फलसफा 'पागलपन' है, तो उसका और पागलपनों से भेद करना ज़रूरी है। एक तरह से देखें तो कौन पागल नहीं था, क्या बुद्ध 'पागल' नहीं थे, राज्य को छोड़ना, बीबी-बच्चों को छोड़ना, वह भी रात को, चुपके से बगैर किसी को कहे। बाद में भी जो उन्होंने किया, कम से कम तब तक जब वह 'बुद्ध' नहीं बने थे पागलपन जैसा ही लगता है। हाँ, बुद्ध होने के बाद की बात दूसरी है और वह भी शायद इसलिए कि उनके हजारों, लाखों 'मुरीद' हो गये, शिष्य बन गये, पर हज़ारों नौजवानों को उनके घर से निकालकर 'भिक्षु' बनाना क्या कोई अच्छी बात थी। उनके माँ-बाप ने तो उन्हें भी पागल की संज्ञा दी ही होगी।

बुद्ध की बात छोड़ें, 'गाँधी' क्या पागल नहीं हुए थे, वे क्यों 'पागल' नहीं कहलायेंगे और, उन्होंने जो अपने बीबी-बच्चों के साथ किया, उसको कौन ईमानदार आदमी ठीक बतायेगा।

खैर कम से कम यह बात साफ है कि ये लोग और इन जैसे अनेकों अन्य लोग ''दार्शनिक पागलों'' की कोटि में नहीं रखे जा सकते। दार्शनिक कहे जाने वाले लोग कोई भी बेवकूफी करें, कम से कम ऐसी 'बेवकूफी' नहीं करते हैं। सोक्रेटीज की ही बात लें तो उसने न अपनी बीबी को छोड़ा न राज्य को, न कोई गहरी तपस्या की और जहाँ तक उसके बारे में कहानी किस्से मिलते हैं, उनसे यही पता चलता है कि उसे 'खाने-पीने' का भी शौक कुछ कम नहीं था। हिन्दुस्तान में भी याज्ञवल्क्य को देखें तो ब्रह्मज्ञान होने के पहले उसकी दो स्त्रियाँ थीं और उसने जब 'घर' छोड़ने का फैसला किया तो वह कम से कम इसलिए नहीं किया था कि उसे 'सत्' की प्राप्ति नहीं हुई थी, और उसने जिस तरह से घर छोड़ा अगर उसकी बुद्ध के घर छोड़ने से तुलना करें तो अन्तर स्पष्ट दिखाई देगा। यही नहीं, जनक की सभा में, उसको गौएँ भी प्यारी हैं और वर्ग भी यह दूसरी बात है कि शंकर तक आते-आते ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए 'सन्यास' लेना जरूरी समझा जाने लगा और कामिनी-कंचन की बात करना तो अध्यात्म के मार्ग से उल्टी ओर जाने की बात समझी जाने लगी, अगर इसी बात पर थोड़ा ध्यान दें, तो यह बात स्पष्ट दिखाई देगी कि उपिनषदों के काल से आते-आते शंकर के काल तक आध्यात्मिकता का और दार्शनिकता का भी कितना ह्रास हो चुका था। उपनिषदों के ऋषि जिस तरह से बोलते हैं, व्यवहार करते हैं उस तरह से क्या शंकर या उनके परवर्ती आचार्य करते थे, यह ठीक है कि बहुत बाद में वल्लभाचार्य ने सन्यास को त्यागकर फिर गृहस्थाश्रम में 'ब्रह्मज्ञान' की प्राप्ति की बात कही। पर, उनकी बात चली नहीं और आश्चर्य की बात तो यह है कि श्रीमद्भागवत का सप्ताह तक पाठ सुनाकर लोगों को मुक्ति दिलाने वाले 'पण्ड़ित' स्वयं शुक्रदेव जी के पथ के अनुसरण करते दिखाई नहीं देते। वैसे, शुकदेव जी का 'पथ' कम से कम याज्ञवल्क्य का तो पथ नहीं था।

हिन्दुस्तान की कहानी शायद याज्ञवल्क्य से शुरू तक की कहानी है और इस कहानी के भीतर ही दार्शनिक चिन्तन के अन्तर का छिपा वह अर्न्तद्वन्द दिखाई पड़ता है, जिसको समझे बगैर भारतीय दार्शनिक चिन्तन के स्वरूप को समझना कठिन है, वैसे, दार्शनिक चिन्तन के साथ 'भारतीय' शब्द का प्रयोग एक नयी समस्या को जन्म देता है। वैसे तो चिन्तन के साथ दार्शनिक विशेषण लगाने से पहले ही समस्या उत्पन्न हो चुकी है-अब, अगर उसके साथ भारतीय शब्द और जोड़ दें तो शायद समस्या और भी उलझ जायेगी। अभी तक यही फैसला नहीं हुआ है कि आखिर चिन्तन और दार्शनिक चिन्तन में क्या भेद है और अब 'दार्शनिक चिन्तन' और 'भारतीय दार्शनिक चिन्तन' में भी भेद करना पड़े तो साफ है कि समस्या सुलझने के बजाय और अधिक उलझ जायेगी।

चिन्तन और दार्शनिक चिन्तन में पहले थोड़ा भेद करने की कोशिश करें, तो शायद बात कुछ अधिक स्पष्ट हो पायेगी। चिन्तन किसी बात को लेकर होता

है, उस बात के बारे में जिसके विषय में कोई समस्या या उलझन बुद्धि को दिखाई देती है। साधारणत: कर्म के सन्दर्भ में जो चिन्तन होता है उसको 'चिन्तन' की कोटि में नहीं रखा जाता, हालांकि ऐसा करना कोई जरूरी नहीं है। हम एक तरह से देखें तो कर्म के सन्दर्भ में साध्य-साधन की बात होती है, क्या करने से क्या होगा और अगर अनेक साधनों के द्वारा किसी साध्य की प्राप्ति हो सकती है तो उन साधनों में से किसको चुनना अधिक सही या सार्थक होगा। अधिकतर यह कार्य-कारण रूपी ज्ञान के सन्दर्भ की बात है, लेकिन जब यह चिन्तन साध्य के बारे में सोचने लगता है, तो एक नयी दिशा लेता है, आखिर वह सब करने से क्या फायदा जिसके द्वारा किसी लक्ष्य की प्राप्ति करना चाहते हैं, वह लक्ष्य वास्तव में क्या है। वैसे तो ऐसा सोचने का मौका कम ही मिलता है, जीवन की साधारण प्रक्रिया मनुष्य को अपने रोज़मर्रा के चक्र में ऐसी फँसाये रखती है कि उसको न नज़र उठाने का मौका मिलता है, न आसमान की तरफ देखने का, न सोचने का, लेकिन फिर भी, कभी-कभी वह सोचता ज़रूर है और तब उसे यह देखकर आश्चर्य होता है कि 'जिन्दगी' उसे यन्त्रवत् परिचालित कर रही है, जबकि वह समझता यह था कि वह उसे परिचालित कर रहा है। गीता में इसी बात को 'यन्त्रारूढानि मायया' कहकर बताने की कोशिश की गयी है। आजकल इसको अगर 'escalotor' का उदाहरण देकर समझाया जाये तो शायद अधिक समझ में आयेगा।

साधारणत: 'दार्शनिक' चिन्तन उस क्षण के चिन्तन को इंगित करता है जब मनुष्य अपनी ज़िन्दगी के लक्ष्य के बारे में प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखता है और थोड़ी देर के लिए यह सोचता है कि आखिर यह सब क्या है और क्यों है। क्या मैं वास्तव में किसी यन्त्र के समान हूँ जो किसी के द्वारा परिचालित हो रहा है और मेरा यह सोचना कि मैं 'करने' में स्वतन्त्र हूँ इससे बड़ा शायद कोई भ्रम नहीं है। स्वतन्त्रता का अनुभव मनुष्य को तो कम से कम प्रत्येक क्षण होता ही है, लेकिन इसके साथ ही साथ उसको परतन्त्रता का अनुभव भी उन्हीं क्षणों में सदैव होता रहता है। जब वह इस अन्तर्विरोध की अनुभूति को बौद्धिक समस्या के रूप में देखता है और उसे सुलझाने की चेष्टा करता है तब दार्शनिक चिन्तन उत्पन्न होता है।

'स्वतन्त्रता' के सम्बन्ध में यह उलझन दर्शन के मूल में ही नहीं, मनुष्य की आत्म चेतना के मूल में भी इस प्रकार सर्वव्याप्त है कि उसको समझे बगैर आदमी को समझना मुश्किल है। एक ओर आदमी अपने को खुद हर चीज के लिए जिम्मेदार मानता है और दूसरे तो उसे हमेशा उस पर उत्तरदायित्व लादते ही हैं और जब यह कुछ अच्छा होता है तो उसे इस पर गर्व भी होता है और जब बुरा होता है तो वह उससे बचने की कोशिश करता है और हजारों बहाने ढूँढ़ता है। इस 'बहाने ढूँढ़ने' के पीछे चेतना अपने को जिस तरह देखती है वह उसकी बिल्कुल विरोधी है, जिसके आधार पर वह अपने को दूसरो के सामने प्रस्तुत करना चाहती

है। दूसरों के सामने ही नहीं अपने सामने भी जब वह अपने को देखना या समझना चाहती है तो काफी हद तक वह उसी प्रकार देखती है, हालांकि वह ऐसा पूर्ण रूप से नहीं कर पाती। अपने को विषयरूप में देखना और दूसरों के सामने अपने को विषयरूप में प्रस्तुत करना इनमें बहुत थोड़ा भेद है, क्योंकि जब भी हम, चाहे अपने को या किसी और को विषय-रूप में देखते हैं तो उस उपाधि से युक्त ही देखते हैं, और चाहते भी सब यही हैं कि उनके अपने लिए जो भी विशेषण प्रयुक्त हों वे सब अच्छे ही हों, परन्तु ऐसा होता तो नहीं है। एक ओर चेतना को कम से कम अपने बारे में ऐसा लगता है कि विशेषण चाहे अच्छे हों या बुरे हों, वे उससे अलग हैं जो वह वास्तव में है। पर, दूसरों के बारे में उसे ऐसा कभी नहीं लगता। यह अन्तर्विरोध जो दो स्तर पर प्रकट होता है, एक अपने और दूसरों के बारे में, और जो दूसरे को स्वयं अपने बारे में सदैव दिखाई देता है, दर्शन के मूल में उसी तरह अवस्थित है जिस तरह स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य की अनुभूति।

चेतना को विषय रूप में देखने से जो अन्य समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उनकी ओर कम ही ध्यान दिया गया है, हालांकि उनके बगैर दार्शनिक चिन्तन को समझा ही नहीं जा सकता। आखिर चेतना विषय रूप में प्रस्तुत होने के लिए अपने को कैसे अभिव्यक्त करती है और उस अभिव्यक्ति के कैसे-कैसे अनेक रूप हैं। मनुष्य के स्तर पर यह साधारणत: भाषा में अभिव्यक्त होती है, फिर वह भाषा चाहे शरीर की हो या वाणी की। शरीर बहुत कुछ कहता है, एक-एक अंग मुखर होता है और अपने को सहज रूप में अभिव्यक्त करता रहता है, पर वह शरीर से उस प्रकार स्वतन्त्र नहीं हो पाता जिस प्रकार वाणी होती है और वाणी तो जब 'लेखन' का रूप लेती है तो और भी स्वतन्त्र हो जाती है।

मनुष्य भाषा के साथ इतना बँधा हुआ है कि उसके बगैर उसको समझना असम्भव प्रतीत होता है, लेकिन भाषा जहाँ एक ओर विचार से आबद्ध या पूर्णत: संलग्न है वहीं दूसरी ओर उसका अपना एक स्वतन्त्र स्वरूप भी है, जिसकी ओर तभी ध्यान जाता है, जब कोई उसको 'विषय-वस्तु' के रूप में देखता है।

पर केवल भाषा ही विषय-वस्तु के रूप में नहीं देखी जाती, विचार भी विषय-वस्तु का रूप लेकर चिन्तन का विषय बनता है और दर्शन का उद्गम और उद्भव भाषा के इन दोनों पक्षों से प्रारम्भ होता है। एक ओर व्याकरण का जन्म होता है और उसी के साथ वह जिसको व्याकरणनिष्ठ या व्याकरण केन्द्रित दर्शन कहा जा सकता है। दूसरी ओर विचार-केन्द्रित दर्शन का जन्म होता है, जो एक ओर तर्कशास्त्र या प्रमाण-शास्त्र का रूप लेता है और दूसरी ओर ज्ञान-मीमांसा का।

दर्शन के मूल में यह मनुष्य की आत्म-चेतना इन चार अलग-अलग, परन्तु आपस में अनिवार्य रूप से सम्बन्धित, दिशाओं में प्रवृत्त होती है और जब तक हम इनको इनके मूल में नहीं पकड़ेंगे, तब तक हम दार्शनिक चिन्तन के उस विशाल

विस्तार को नहीं समझ पायेंगे जो उसने अनेक संस्कृतियों, सभ्यताओं में प्राप्त किया है।

परन्तु, इनके आलावा दार्शनिक चिन्तन की 'जड़' एक और भी है और वह उस अनन्तता के दर्शन में है जो एक ओर उसे अंक गणित में मिलती है और दूसरी ओर रेखागणित में। इस 'अनन्तता' की बात भारतीय दर्शन में बिल्कुल ही प्राप्त नहीं होती, पर यह आसानी से सभी को उपलब्ध हो सकती है, करीब-करीब उसी प्रकार जिस प्रकार आत्म चेतना की अनन्तता, जिसकी चर्चा भारतीय चिन्तन में सर्वत्र व्याप्त है। गिनती गिनना शुरू कीजिए, तो वह क्या कहीं भी समाप्त हो सकती है, कितना ही गिनते जाइये, लाख-दस लाख, करोड़-दस करोड़, अरब-दस अरब, क्या किसी को भी इसका 'अन्त' कभी भी मिल सकता है। कितना ही गिनो, जन्म दर जन्म उसका कभी भी अन्त मिलना असम्भव है। ऐसा क्यों? जैसे ही आदमी इसकी ओर ध्यान देता है और इसके बारे में सोचता है, तो वह आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहता। यह कैसा माया जाल है और, जब यह 'गिनना' काल के सन्दर्भ में होने लगता है तब मनुष्य की बुद्धि के सामने जो समस्या उत्पन्न होती है, उसका उसे कोई निराकरण सूझता ही नहीं, पीछे देखता है तो एक ऐसी अनन्तता दिखाई देती है, जिसका कभी प्रारम्भ ही सोचा नहीं जा सकता और आगे देखता है तो ऐसी अनन्तता दिखाई देती है, जिसका कभी खात्मा भी सोचा नहीं जा सकता। वह स्वयं काल में अवस्थित है और जिस काल में वह अवस्थित है वह दोनों ओर उसकी चेतना को अनन्त दिखाई देता है। इन दोनों अनन्तताओं को समझना और उसके बीच अपने को स्थित पाना यह मनुष्य के सामने सबसे बड़ी दार्शनिक पहेली को जन्म देती है।

काल की अनन्तता के साथ, देश की अनन्तता भी है और इन दोनों अनन्तताओं ने उन दार्शनिक समस्याओं को जन्म दिया जिनको जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट ने 'Antinomy' का नाम दिया था। विचार में Antinomy या मूल अन्तर्विरोध तब उत्पन्न होता दिखाई देता है जब दो परस्पर विरोधी मान्यताएँ बुद्धि को एक साथ तर्क संगत, न्याययुक्त प्रतीत होती हैं। काल का प्रारम्भ माने या न मानें, क्या इसका कोई फैसला कर सकता है। अगर 'प्रारम्भ' मानते हैं तो सहज सवाल यह उत्पन्न होता है कि उसके पहले क्या था और अगर नहीं मानते तो सवाल यह पैदा होता है कि जो 'अनन्त' है, उसका अन्त कैसे हो सकता है। एक तरह से किसी चीज़ के 'जन्म' को मानने का अर्थ ही यह है कि उसके पहले या उसके जन्म के साथ वह अनन्त काल समाप्त हो गया है, जिसे उसके पहले मानना अनिवार्य प्रतीत होता है, लेकिन यदि कोई चीज अनन्त है तो फिर उसका अन्त कैसे माना जा सकता है। इस तरह से जिसका प्रारम्भ हुआ है, क्या वह अन्तहीन हो सकती है। भारतीय दर्शन में इस सम्भावना को भी स्वीकार किया गया है, क्योंकि जब किसी चीज़ का नाश होता है तब उसके अभाव को 'अन्तहीन' ही

मानना पड़ेगा। काल के इन दोनों पक्षों को 'प्रागभाव' और 'ध्वसांभाव' का नाम दिया गया है और जिन लोगों ने अविद्या को अनादि माना है, उन्होंने इस बात से सांत्वना प्राप्त की है, कि जो अनादि है, उसका अन्त हो सकता है और शायद इस बात से भी कि जब एक बार अविद्या का नाश हो जायेगा तो वह 'नाश' भी हमेशा शाश्वत रूप में अमर रहेगा।

काल के सम्बन्ध में जो सारी समस्याएँ हैं इनका समाधान अनेक प्रकार से करने की कोशिश की गयी है, जिनमें प्रधानत: तीन हैं। पहला समाधान कान्ट का है, जिसके अनुसार यह समस्या इसलिए उत्पन्न होती है कि देश या काल को विषय-वस्तु के रूप में देखते हैं, जबकि वह विषय-वस्तु न होकर हमारी ही विषयों को अनुभव करने की पूर्व मान्यताएँ हैं। दूसरा समाधान आज के विज्ञान का है, जिसके अनुसार देश या काल कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते, वे तो जगत् की सत्ता के ही दो आयाम हैं जो एक-दूसरे से इस प्रकार बँधे हुए हैं कि उनको अलग करके नहीं देखा जा सकता और जो दूसरी ओर Motion या गति से इस प्रकार संलग्न है कि न उसको उनके बगैर समझा जा सकता है, न उनको उसके बगैर। ब्रह्माण्ड के प्रारम्भ के साथ ही देश और काल का प्रारम्भ भी होता है और उसके गत्यात्मक विस्तार के साथ इनके स्वरूप में भी सतत् परिवर्तन होता है। ब्रह्माण्ड के उत्पन्न होने की बात करना एक प्रकार से अजीब लगता है, लेकिन जिस प्रकार हम किसी चीज़ को समझने के लिए उसके पूर्ववर्ती काल में जाते हैं, उसी प्रकार, विज्ञान के अनुसार, जगत् की जो आज स्थिति है, उसको समझने के लिए हमें काल-क्रम में पीछे जाना पड़ता है और इस पीछे जाने की प्रक्रिया में एक ऐसा चरम बिन्दु आता है, जहाँ हमको इस विश्व या जगत् का प्रारम्भ होता हुआ दिखाई देता है। अगर कोई यह पूछे कि आखिर उसके पहले क्या था, तो विज्ञान के अनुसार, यह प्रश्न अवान्तर ही माना जायेगा, क्योंकि उसके 'पहले' की बात करने का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। समस्या का तीसरा समाधान इसी बात में छिपा हुआ है कि ऐसा प्रश्न क्यों अवान्तर है? यह समाधान कुछ आधुनिक दार्शनिकों ने दिया, जिनमें से राइल प्रमुख है। उनका कहना यह है कि समस्या देश या काल की नहीं है, हमारे गिनने की उस प्रक्रिया की है जो अपने आप में हमेशा बढ़ाई जा सकती है। इसका एक रोचक उदाहरण राइल ने यह कह कर दिया है कि हमारे पास गणित ने बाँटने या विभाजन की एक ऐसी प्रक्रिया दी है कि हम किसी भी छोटी से छोटी चीज़ को अनन्त बना सकते हैं। मेज़ पर रखी केक को ऐसे बाँटना शुरू करें कि उसे पहले आधा बाँटे और फिर आधे का आधा और फिर उसका भी आधा और इस प्रकार बाँटते ही जायें तो वह केक कभी भी, अनन्त काल में भी, पूरी नहीं बँट पायेगी, क्योंकि कुछ न कुछ तो रह जायेगा।

राइल का यह समाधान जीनो की उस पुरानी समस्या का भी समाधान करने की कोशिश है जिसके अनुसार उसने यह दिखाने की कोशिश की थी कि गति

असम्भव है। लेकिन राइल ने गणित में इस प्रकार की अनन्त प्रक्रियाओं के अनन्त रूपों के बारे में कुछ नहीं कहा है, जिनके आधार पर सारा अंकगणित और रेखागणित का प्रासाद खड़ा हुआ है। गणित के उस प्रासाद की नींव में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, लेकिन एक बात स्पष्ट है कि अगर हम इन अन्तहीन, कभी न समाप्त होने वाली प्रक्रियाओं पर रोक लगा दें तो गणितीय ज्ञान सम्भव ही नहीं हो पायेगा। देखने में अंक सीधे-साधे हैं, एक, दो, तीन लेकिन जैसे ही हम इनको किन्हीं अनन्त प्रक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो इनमें एक ऐसी आश्चर्यजनक तब्दीली होती है कि आखिर इन सीधे-साधे दिखने वाले नम्बरों में यह सब कैसे छिपा हो सकता है। 'दो' को ही लीजिए, अब इसको इस प्रकार देखा जा सकता है कि यह किसी उस अंक का हल है जिसको जब हम उसको अपने आप से गुणा करते हैं तब हमें यह गुणनफल के रूप में प्राप्त होता है, साधारणत: इसे वर्गमूल कहा जाता है, लेकिन कितनी बार गुणा करें। तीन बार, चार बार, लाख बार, अनन्त बार। इस प्रकार देखने पर सीधा-साधा दिखने वाला '2' किसी अनन्त प्रक्रिया का फलस्वरूप नजर आता है। अब अगर हम यह बात '2' के बारे में सोचें तो कहेंगे कि यह उस अंक का हल है जिसे उसी से गुणा करने पर वह यह गुणनफल के रूप में प्राप्त होता है। परन्तु यह अंक क्या है, इसका निर्णय करना कठिन है और इसीलिए इसको 'irrational' का नाम दिया गया था। अर्थात् यह अंकों के अनुपात के रूप में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।

इस बात को एक अन्य रूप से भी समझा जा सकता है, जो शायद समझने में अधिक सहायक हो, किसी एक वस्तु को तीन बराबर-बराबर भागों में बाँटना साधारण बात है। कोई भी आदमी इसे आसानी से रट सकता है और हर घर में यह रोज़मर्रा की बात है। किसी चीज़ के एक तिहाई भाग को हम 1/3 कह कर दर्शाते हैं। पर, अगर हम इसी को दशमलव में व्यक्त करने की कोशिश करें, तो सोचिए क्या होगा, वही 1/3 अब 33333 ... हो जाता है। दशमलव के बाद आने वाले 3 की संख्या का कोई अन्त नहीं है और न कभी हो सकता है। अब वही तीसरा भाग जो हमारे सामने प्रस्तुत था और जो कोई समस्या प्रस्तुत नहीं करता था, अब एक-दूसरे रूप में उपस्थित होकर विचार के लिए एक ऐसी समस्या उत्पन्न करता है, जिसका समाधान असम्भव सा प्रतीत होता है, दिखाई देने लगता है, यही बात गणितशास्त्र में जिसको Limits कहा जाता है और जो अनेक प्रकार से मिलती है उससे भी समझी जा सकती है। गणित के ज्ञान की कहानी इतनी अजीब है कि उसकी चर्चा करना मुश्किल है और उसको समझना और भी, लेकिन आज के गणितज्ञ इस सब को यह कहकर सीधा-साधा रूप देने की कोशिश करते हैं कि गणित का ज्ञान किसी विषय-वस्तु का ज्ञान नहीं है, बल्कि मनुष्य की अपनी संरचना है, जिसे उसने अपनी ज़रूरत की पूर्ति के लिए बनाया

है। जैसी ज़रूरत होती है, वैसे काम चलाऊ अंकों के संसार को वे गढ़ लेते हैं। लेकिन यह बात तो ज्ञान के हर क्षेत्र के बारे में उतनी ही सही माननी पड़ेगी जितनी वह गणित के ज्ञान के बारे में 'मनवाना' चाहते हैं, ज्ञान तो 'संरचना' है ही, फिर चाहे वह किसी भी क्षेत्र का क्यों न हो और क्या मनुष्य की हर चीज 'संरचना' नहीं है। संरचना की बात करना, इसलिए, किसी भी ज्ञान का व्यावर्तक लक्षण नहीं हो सकता और वैसा कहने से उसके ज्ञान पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

अब, अगर हम केवल 4 के बारे में फिर से ध्यान दें और यह प्रश्न उठाये कि आखिर हम अपना ध्यान केवल उसके वर्गमूल तक ही क्यों सीमित रखें। यह क्यों नहीं सोचें कि वह अंक कौनसे हैं जिन्हें दो से अधिक बार अपने से गुणा करके वह गुणनफल के रूप में प्राप्त हो सकता है, तो उन अंकों के बारे में क्या एक नयी दृष्टि उत्पन्न नहीं होगी।

गणितीय ज्ञान के विषय में गणितज्ञ कुछ भी कहें या सोंचे वह ज्ञान, जब भी दार्शनिक चिन्तन का विषय बनता है तो वह अनिवार्य रूप में अनन्तता के प्रत्यय को विचार के क्षेत्र में ले आता है, जिस पर विचार करते ही मनुष्य की यह समझ में नहीं आता कि वह उसको किस प्रकार अपने, यानि मानवीय ज्ञान में समाहित कर सके। एक तरह से यही बात वह जब 'आत्मचिन्तन' करता है तो उसे अपने अन्तर में भी उद्भूत होती प्रतीत होती है। वहाँ भी कभी-कभी उसे उस अनन्तता का आभास होता है जो गणित के क्षेत्र में, सहज रूप में उपलब्ध होती है। कभी-कभी वह यह भी सोचता है कि क्या मैं भी उसी प्रकार अनेक अनन्तताओं से संरचित हूँ, जैसा बाहर देखने पर कभी-कभी प्रतीत होता है। देश और काल की अनन्तता सर्वत्र व्याप्त है और अगर सीमित चीज़ों को असीमित प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में देखने पर उनमें अनेक प्रकार की अनन्तताएँ छिपी दिखाई देती हैं, तो क्या 'प्रतीत' होता है, उसको कभी भी सत्य माना जा सकता है। न चेतना में अनुभूत होने वाला सत्य, सत्य है, न बाहर का दिखाई देने वाला जगत्। एक तरफ प्रतीति से बढ़ कर और सत् क्या होगा, दूसरी तरफ बुद्धि बराबर यह कहती प्रतीत होती है कि प्रतीति का सत् कभी भी वास्तव में सत् माना ही नहीं जा सकता, जब तक वह बुद्धि के निकष पर सही न उतरे। पर, बुद्धि का निकष क्या है और इस निकष की प्रामाणिकता कभी भी कैसे तय हो सकती है। दार्शनिक चिन्तन के मूल में यह एक ऐसी समस्या है, जिसका निस्तारण करने में स्वयं उसके अपने बारे में जो शंका और सन्देह उत्पन्न होता है, उससे उसका छुटकारा पाना असम्भव ही प्रतीत होता है, लेकिन इस छुटकारा पाने में ही दर्शन के इतिहास की कहानी है।

लेकिन क्या सन्देह और शंका एक ही प्रकार की होती हैं, या इनके भी अनन्त प्रकार हैं और क्या बुद्धि का निकष एक ही है या उसके भी 'अनेक' प्रकार हैं। इन दो प्रश्नों के उठते ही दार्शनकि चिन्तन का स्वरूप और उसका

इतिहास एक नया रूप लेता है। दर्शन स्वयं अपने बारे में सोचने लगता है, संसार के बारे में नहीं, आत्म चेतना के बारे में नहीं, प्रमाण की प्रामाणिकता के बारे में भी, 'अपने' बारे में भी। आखिर यह चिन्तन क्या है, जो हर चीज के बारे में हर स्तर पर प्रश्न ही नहीं उठाता है, अपने बारे में भी वैसा ही करने के लिए अपने को मजबूर पाता है। क्या आत्मचेतना का स्वरूप ही यह नहीं है कि वह अपने बारे में सदैव अनेकानेक प्रश्नों से उलझी रहे और उनको सुलझाने की कोशिश में हमेशा लगी रहे।

परन्तु, यह आत्मचिन्तन कोई उस प्रकार का आत्मचिन्तन नहीं है जिसकी चर्चा उपनिषदों में होती है, या जिसकी बात ग्रीक दर्शन में Know The self कह कर की गयी थी, या जो आज के मनोविज्ञान में मिलती है, या जो आज के पश्चिमी दर्शन में कभी फिनोमिनोलोजी में, कभी एक्ज़िसटेन्शियलिज्म और कभी Knowledge of other minds या कभी 'personhood' के विचार में मिलती है। इन सबसे शुद्ध दार्शनिक या और स्पष्ट रूप में कहें तो शुद्ध बौद्धिक चिन्तन का कोई लेना-देना नहीं है; हाँ, बहुत से लोग ऐसा समझते ज़रूर हैं और काफी लोग तो ऐसा मानने में ही दर्शन की सार्थकता समझते हैं, लेकिन जो लोग ऐसा समझते हैं, वे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि दर्शन का हज़ारों साल का इतिहास उन्हीं समस्याओं में बार-बार उलझा रहता है और उनको सुलझाने की कोशिश में ही अपनी 'सार्थकता' पाता है, वे इस बात पर भी ध्यान नहीं देते कि उलझन चाहे एक या अनेक की हो, भेद या अभेद की, सृष्टि के प्रारम्भ की या अन्त की, या नित्य या अनित्य की, या आत्म या अनात्म की, बात घूम कर वहीं चक्कर लगाती रहती है, कोल्हू के बैल की तरह, जिस बैल की आँखें अन्धी है और उसको यह नहीं सूझता कि वह हज़ारों साल बीतने पर भी वही वैसे ही चक्कर लगा रहा है।

आखिर ऐसा क्यों? आश्चर्य की बात तो यह है कि प्रत्येक महान् दार्शनिक इस बात को देखता और आश्चर्यचकित भी होता है और फिर इसका हल पाने की कोशिश भी करता है, लेकिन उसकी हर कोशिश के बाद समस्या वैसी की वैसी ही रहती है। थोड़ा बहुत फर्क हो सकता है, लेकिन कुछ ज़्यादा नहीं, शायद वह केवल नामरूप का है। भारतीय सन्दर्भ में इस बात को प्रस्थान-भेद कह कर समझने और सुलझाने की कोशिश की गयी है और जहाँ तक पश्चिमी दर्शन का प्रश्न है, उसके आधुनिक युग को ही लें तो देकार्त की बात करें, या कान्ट की या हुसरल की या विट्गेन्सटाइन की या और किसी की हरेक ने कोशिश यह की कि उसके बाद समस्याएँ सुलझ जायें और दर्शन को उसकी असाध्य या लाइलाज बीमारी से कैसे बचाया जाये, लेकिन मज़ाक तो यह है कि बीमार का वही हाल है जो 'उनके' आने के पहले था।

लेकिन अगर कोई इस बात पर जरा ध्यान दे कि फलसफे की परेशानी या दर्शन की उलझन करीब-करीब हमेशा वैसी-ही रहती है, चाहे वह सोचना कहीं से

भी शुरू करे और चाहे उसके चिन्तन का 'विषय' कुछ भी हो। बात इतिहास की हो या गणित की, आत्मा की या जगत् की, धर्म की या कला की; मतलब बात किसी की भी हो दार्शनिक समस्या वही रूप लेती नज़र आती है और ऐसा लगता है जैसे दर्शन का विषय इन क्षेत्रों से विशेष रूप में सम्बन्धित न होकर किसी अन्य बात से है। ये तो उसके 'आलम्बन' मात्र हैं, जिनका सहारा लेकर वह वास्तव में 'अपने' क्षेत्र में प्रवेश करता है और वहाँ इनसे मुक्त होकर अपने सहज रूप में अवस्थित होने की चेष्टा करता है। यह बुद्धि का अपना क्षेत्र है-शुद्ध, स्वतन्त्र, स्वच्छन्द। यहाँ बुद्धि किन्हीं लौकिक या पारलौकिक विषयों पर नहीं सोचती, न उसका धर्म की समस्याओं से सम्बन्ध है न रूप की, न ज्ञान की न कर्म की, न अनुभव की न अनुभवातीत की; वह तो इन सभी से अलग होकर, निस्संग होकर शुद्ध अपने स्वरूप में अवस्थित होकर अपने बारे में विचार करती है और इस विचार की, प्रक्रिया में जो समस्या उठती हो, उसको उठाने में और सुलझाने में सहज आनन्द लेती है। जितना उलझता है उतना ही उसे मज़ा आता है, क्योंकि वह उलझना उसे सुलझाने की ओर प्रवृत्त करता है और उसे यह पता है कि यह प्रक्रिया, अन्य जीवन्त प्रक्रियाओं की तरह अनन्त है, क्योंकि यहाँ प्रक्रिया में ही जीवन है। ऐसा अन्य क्षेत्रों में भी है, अगर कोई ज़िन्दगी पर ध्यान दे, रोज़मर्रा की ज़िन्दगी पर, तो उसे वहाँ भी यही सत्य दिखाई देगा, क्योंकि 'संसार' का अर्थ ही यह है और संसार के हर क्षेत्र का अपना सत्व यही है। यह कोई बीमारी नहीं है, न कोई असाध्य रोग जिसका निदान खोजने की ज़रूरत है, ऐसा केवल उन्हें लगता है जो बुद्धि के अपने शुद्ध स्वरूप से परिचित नहीं हैं; जो केवल उसको अन्य पुरुषार्थों का आनुषंगिक मानते हैं, साधन मात्र। दर्शन की प्रक्रिया में या दार्शनिक चिन्तन में बुद्धि का साधन रूप में प्रयोग नहीं होता-वह तो यहाँ स्वयं अपना 'पुरुषार्थ' बन कर जो संसार रचती है, उसी में वह अपनी सिद्धि पाती है। यही उसकी लीला है और यही उसकी माया; जिसको ऐसा पसन्द नहीं है, जिसे इसमें सहज आनन्द नहीं आता वह और कुछ हो सकता है, दार्शनिक नहीं।

❑

चेतना, उपाय-कौशल और औचित्य विचार

चेतना का लक्षण प्राय: ज्ञान के सन्दर्भ में दिया जाता है, और ज्ञान की बात करते ही सत्य-असत्य का प्रश्न उठता है। यही नहीं, 'विषय-विषयी' का भेद भी इसी दृष्टि से उत्पन्न होता है और उसने दार्शनिक चिन्तन को इतना प्रभावित किया है कि चेतना को किसी अन्य रूप में देखना असम्भव सा ही प्रतीत होने लगा है। परन्तु 'चेतना' की बात कहते ही एक और बात भी उत्पन्न होती है और वह यह है कि मनुष्य की चेतना वैसी नहीं है, जैसी वह स्वयं को होना चाहेगी। मानवीय चेतना स्वयं में परिवर्तन चाहती है और यह भी सहज रूप में स्वीकार करती है कि इस परिवर्तन को लाने की शक्ति उसमें, स्वयं में है। वह ऐसा कहने की बराबर कोशिश करती है, हालांकि उसमें कभी कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं होती। फिर भी उसे ऐसा आभास सदैव होता है कि ऐसा करने से शायद ऐसा होगा।

उचित-अनुचित का भेद और 'कुछ करने से कुछ होगा' जिन्हें दार्शनिक भाषा में 'औचित्य विचार' और 'उपाय कौशल', का नाम दिया गया है, का मूल इसी आत्म चेतना में निहित है। पर, जो बात चेतना अपने स्वयं के बारे में पाती है, वही वह उन सभी 'विषयों' के बारे में भी महसूस करती है जो उसके सामने विषय रूप में उपस्थित होते हैं। औचित्य का प्रश्न सभी जगह उठता है और 'अनुचित' को उचित बनाने का प्रयत्न उस क्रिया को जन्म देता है, जिसके सफल-असफल होने के बारे में ही 'उपाय कौशल' की बात कही जाती है।

मनुष्य की चेतना का यह लक्षण, उसका स्वरूप लक्षण है, और इसीलिए यह उसमें इस प्रकार अन्तर्निहित है कि जहाँ भी वह है वह यह सदैव अनिवार्य रूप से होता है। यह सतत्, चिरंतन, कभी न समाप्त होने वाली प्रक्रिया मनुष्य को परिभाषित करती है और, इसीलिए, मनुष्य सदैव अपने से भी और जगत् से भी असन्तुष्ट रहता है।

भारतीय चिन्तन ने इस अवस्था को प्रवृत्ति-निवृत्ति का नाम दिया है, और यह कहने की कोशिश की है कि प्रवृत्ति मात्र ही दोषपूर्ण है और जब तक आदमी प्रवृत्ति से विमुख नहीं होगा इस 'असन्तोष' से उसकी मुक्ति नहीं होगी। मुक्ति का मार्ग, इसीलिए केवल निवृत्ति है, प्रवृत्ति से विमुख होना, दूसरी ओर लौटना जो